International Journal of Research in Hindi
www.hindijournal.in
ISSN: 2582-3493
Received: 15-08-2025, Accepted: 14-09-2025, Published: 29-09-2025
Volume 7, Issue 2, 2025, Page No. 25-28

कबीर के काव्य में मध्ययुगीन सामाजिक चेतना

दिनेश किराड़
सहायक आचार्य हिंदी विभाग, महाराजा अग्रसेन स्नातकोतर महाविद्यालय नगर जिला डीग राजस्थान, भारत

सारांश
कबीर भारतीय संत–साहित्य की एक अनमोल धरोहर हैं, जिनकी वाणी में आध्यात्मिक साधना के साथ–साथ सामाजिक जागरूकता की स्पष्ट आवाज भी सुनाई देती है। उन्होंने अपने दोहों और साखियों के जरिए जातिगत ऊँच–नीच, धार्मिक पाखंड, साम्प्रदायिक संकीर्णता और सामाजिक अन्याय पर कड़ा , चित्रण भी है। इस शोध–पत्र का उद्देश्य यह है कि कबीर के काव्य में मध्यकालीन सामाजिक चेतना किस तरह से प्रकट होती है।

मूल शब्दः कबीर, मध्यकाल, सामाजिक चेतना, जाति, पाखंड, भक्ति, श्रम।

मध्ययुगीन भारत कई सामाजिक और धार्मिक संकटों से जूझ रहा था। सामंती शोषण, विदेशी आक्रमण और सांप्रदायिक टकरावों के बीच, समाज जातिगत बंधनों और धार्मिक आडंबरों में जकड़ा हुआ था। इसी समय, संत कवियों ने जन–चेतना के लिए एक नया रास्ता खोला। कबीर का स्वर इस संदर्भ में सबसे क्रांतिकारी था। वे खुद एक जुलाहा थे और श्रम की महत्ता को समझते थे। उन्होंने निडर होकर हिंदू और मुस्लिम दोनों समाजों की कुरीतियों की आलोचना की और समानता, प्रेम और मानवता का संदेश फैलाया।

साहित्य समीक्षा

कबीर पर विद्वानों ने गहराई से शोध किया है।
रामचंद्र शुक्ल (1929) ने हिंदी साहित्य के इतिहास में कबीर को संत साहित्य की धारा का सबसे प्रभावशाली कवि माना। उन्होंने लिखा, "कबीर ने भक्ति को लोकचेतना से जोड़ा और समाज में व्याप्त संकीर्णताओं को तोड़ा" (शुक्ल, रामचंद्र (1929)।
हजारीप्रसाद द्विवेदी (1947) ने कबीर के बारे में कहारू "कबीर युगदृसंधि के कवि हैं। वे समाज के सभी अंतर्विरोधों को प्रकट करते हैं और नए मूल्य स्थापित करते हैं" (द्विवेदी, हजारी.(1947)।
नामवर सिंह (1993) ने कबीर के सामाजिक स्वर को इस तरह व्यक्त कियारू "कबीर का काव्य सामाजिक क्रांति की आवाज़ है, जिसने जाति और धर्म की जकड़न को तोड़ा" (सिंह, नामवर . 1993)।
वही, परमानंद श्रीवास्तव (1985) ने कबीर और उनके युग पर टिप्पणी करते हुए कहा कि "कबीर का विद्रोह उस काल के शोषित वर्ग की सामूहिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है" (श्रीवास्तव, परमानंद. 1985)।
इन आलोचकों के विचारों से यह साफ है कि कबीर को सिर्फ एक भक्तिदृकवि के रूप में देखना एक अधूरा दृष्टिकोण है। वे वास्तव में समाजदृसुधारक और जागरण के कवि भी हैं।

शोध–समस्या

कबीर को अक्सर सिर्फ भक्ति के कवि के तौर पर देखा जाता है। लेकिन उनका लेखन सामाजिक असमानताओं, धार्मिक पाखंड और सांप्रदायिक बंटवारे की तीखी आलोचना भी करता है। इस शोध–पत्र का सवाल है:
"कबीर के काव्य में मध्ययुगीन सामाजिक चेतना किस तरह से प्रकट हुई है?"

शोध–उद्देश्य

1. कबीर के काव्य में प्रतिबिंबित जातिगत और धार्मिक संकटों का विश्लेषण करना।
2. कबीर के दोहों में प्रकट सामाजिक चेतना को रेखांकित करना।
3. कबीर के काव्य को सुधारवादी दृष्टि से देखना।

कार्य–विधि

यह शोध वर्णनात्मकदृविश्लेषणात्मक पद्धति पर आधारित है।

- **प्राथमिक स्रोतः** बीजक, पदावली, साखियाँ।
- **द्वितीयक स्रोतः** शुक्ल, द्विवेदी, सिंह, वाजपेयी, श्रीवास्तव आदि की आलोचनात्मक कृतियाँ।

विश्लेषण

जाति–व्यवस्था और सामाजिक चेतना

मध्यकालीन भारतीय समाज की सबसे जटिल और दमनकारी व्यवस्था जातिप्रथा थी। शूद्र और अछूत वर्ग ने सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों में शोषण और हीनता का सामना किया। ऊँची जातियों ने धर्मग्रंथों के नाम पर उन्हें शिक्षा, पूजा, और सामाजिक अधिकारों से वंचित रखा। इसी पृष्ठभूमि में कबीर का स्वर एक क्रांतिकारी रूप में उभरता है।
कबीर खुद जुलाहा थे, यानी समाज की नजर में "निम्न जाति" से आते थे। लेकिन उन्होंने इस हीनता को ठुकराते हुए अपनी आवाज से जातिवादी ढाँचे को तोड़ने का साहस दिखाया। कबीर का मानना था कि जाति का कोई महत्व नहीं है; मनुष्य की असली पहचान केवल ज्ञान, सद्गुण और कर्म से होती है। वे कहते हैं

"जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।"
(कबीर, बीजक; द्विवेदी हजारीप्रसाद.)

कबीर ज्ञान को सामाजिक मूल्यों का आधार मानते हैं। तलवार की असली कीमत उसकी धार में होती है, न कि म्यान में। इसी तरह, इंसान का मूल्य उसके गुणों से होता है, जाति या उपाधि से नहीं।
कबीर की वाणी में पीड़ित समाज की चेतना और विद्रोह की गूंज सुनाई देती है। उन्होंने शोषित वर्ग को आत्म–सम्मान का संदेश दिया और बताया कि इंसान को उसकी जाति नहीं, बल्कि उसके

कर्म महान बनाते हैं। यह विचार उस समय के समाज के लिए एक बड़ा झटका था।
कबीर ने ऊँच–नीच और छूत–अछूत की संकीर्णताओं पर भी प्रहार किया। उनका एक प्रसिद्ध दोहा है

"एक बूंद से सब बने, माटी एक समान।
कौन ब्राह्मण, कौन शूद्र, कहे कबीर जान।।"
(कबीर,, सिंह, नामवर. 1993)

उन्होंने देखा कि ब्राह्मण जन्म के आधार पर श्रेष्ठता का दावा करता है, परंतु उसका आचरण दूसरों से भिन्न नहीं। वे तीखे व्यंग्य में कहते हैं
यहाँ वे सभी मनुष्यों की उत्पत्ति को एक ही स्रोत से जोड़ते हैं। सभी का शरीर एक ही मिट्टी और एक ही रक्त से बना है, तो ऊँच–नीच का भेद कहाँ रह जाता है? कबीर केवल सैद्धांतिक विरोध नहीं करते, बल्कि जाति के आधार पर धार्मिक कर्मकांडों की निरर्थकता को भी उजागर करते हैं।
कबीर ने देखा कि ब्राह्मण अपने जन्म के आधार पर श्रेष्ठता का दावा करता है, लेकिन उसका व्यवहार दूसरों से अलग नहीं है। वे तीखे व्यंग्य में कहते हैं

"जन्मे ब्राह्मण कहे, क्या ब्राह्मण का काम.
तब लगि ब्राह्मण पूजिए, जब लगि देवे ज्ञान।।"
(कबीर, बीजक; श्रीवास्तव , परमानंद . 1985)

इस तरह कबीर ब्राह्मण की श्रेष्ठता को उसके जन्म से नहीं, बल्कि उसके ज्ञान और आचरण से जोड़ते हैं। कबीर की जातिविरोधी सोच केवल आलोचना तक सीमित नहीं रही; उन्होंने समानता पर आधारित समाज का सपना भी देखा। उनके अनुसार, सच्चा धर्म वह है जो सभी को समान सम्मान देता है। कबीर का यह दृष्टिकोण न केवल मध्यकालीन सामाजिक संकट के प्रति जागरूकता दर्शाता है, बल्कि भविष्य के मानवतावादी समाज की नींव भी रखता है।

धार्मिक पाखंड और कर्मकांड का विरोध

मध्ययुगीन भारत का धार्मिक जीवन कर्मकांड और पाखंड से भरा हुआ था। हिंदू समाज में मूर्तिपूजा, तीर्थ–स्नान, और हवन–यज्ञ जैसे बाहरी आडंबर आम थे, जबकि मुस्लिम समाज में मस्जिदों का निर्माण, औपचारिक नमाज़, और मौलवियों की दिखावटी धार्मिकता का बोलबाला था। इस माहौल में कबीर ने निडरता से दोनों समुदायों की रूढ़ियों पर प्रहार किया।
वे मूर्तिपूजा की बेकारियत को उजागर करते हुए कहते हैं

"पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहाड़।
ताते तो चाकी भली, पीस खाय संसार।।"
(कबीर, शुक्ला, रामचंद्र. 1929)

यहाँ कबीर मूर्तिपूजा की निरर्थकता को स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार, अगर पत्थर की पूजा करने से ईश्वर मिल सकता है, तो पहाड़ सबसे बड़ा देवता होना चाहिए। लेकिन सच्चाई यह है कि पत्थर की चक्की ही लोगों का पेट भरती है, न कि मूर्ति।
इसी तरह, इस्लामिक कर्मकांड पर भी वे चोट करते हैं

"कांकर पाथर जोड़ि के, मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहरा हुआ खुदाय।।"
(कबीर, सिंह, नामवर. 1993)

कबीर का कहना था कि अगर ईश्वर हर जगह मौजूद है, तो मस्जिद की ऊँचाई और जोर से पुकारने की क्या जरूरत?
उनका ध्यान आत्मिक भक्ति और सच्चे जीवन पर था, न कि बाहरी आडंबरों पर। कबीर के अनुसार, धर्म का असली महत्व बाहरी दिखावे में नहीं, बल्कि आंतरिक शुद्धता और सच्चे आचरण में है। इस तरह, उन्होंने धार्मिक पाखंड को नकारते हुए भक्ति को मानवता और सामाजिक चेतना से जोड़ा।

"कांकर पाथर जोड़ि के, मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहरा हुआ खुदाय।।"
(कबीर, सिंह, नामवर. 1993)

साम्प्रदायिक सद्भाव और मानवतावाद

मध्यकालीन भारत में एक बड़ी चुनौती हिंदू–मुस्लिम विभाजन था। धार्मिक नेताओं और सत्ता की संरचना ने इसे और बढ़ावा दिया, जिससे समाज में वैमनस्य और हिंसा का माहौल बना। कबीर ने इस सांप्रदायिक संकीर्णता का खुलकर विरोध किया और मानवता को सबसे ऊपर रखने वाला एक दृष्टिकोण पेश किया।
वे कहते हैं

"हिन्दू कहे मोहि राम पियारा, तुर्क कहे रहमाना।
आपस में दोऊ लड़ी–लड़ी मर गए, मरम न काहू जाना।।"
(कबीर, बीजक; श्रीवास्तव , परमानंद . 1985)

यहाँ कबीर यह स्पष्ट करते हैं कि ईश्वर को अलग–अलग नाम देने से उसकी असली पहचान नहीं बदलती। लेकिन लोग नामों के झगड़े में एक–दूसरे को खत्म कर देते हैं, जबकि किसी ने भी ईश्वर का असली रहस्य नहीं जाना।
कबीर ने सार्वभौमिक शक्ति की एक अवधारणा दी, जो जाति और धर्म की सीमा से परे है। वे कहते हैं

"एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।
कहे कबीर साधे कहो, एक साधो भाय।।"
(कबीर, बीजक; द्विवेदी हजारीप्रसाद 1947)

उनका संदेश यह था कि यदि उनका जीवन सच्चा, प्रेम और करुणा था, तो वह सच्चा और धर्मी थे।
इसके अलावा, वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मानवता और प्रेम धर्म से ऊपर है ।

"कहे कबीर सुनो भइया, न हिन्दू न मुसलमान.
जो करम करै भला, वही पावै अरमान।" (शुक्ला ,रामचंद्र .1929)

वे मतभेदों और घृणा के अंतर के खिलाफ चेतावनी भी देते हैं–

"मन का सच्चा दीपक जरा, जाति धर्म को भुला.
सत्य प्रेम का पथ चल, सब मनुष्यों को मिला।" (सिंह, नामवर . 1993)

इस प्रकार, कबीर का यह संदेश स्पष्ट है कि समाज में साम्प्रदायिक सद्भाव तभी स्थापित हो सकता है जब सभी मनुष्य धर्म, जाति और वर्ग के भेद से ऊपर उठकर एक–दूसरे का सम्मान और प्रेम करें। उनका काव्य आज भी सामाजिक और मानवतावादी चेतना को जाग्रत करने का माध्यम है। कबीर का काव्य सांप्रदायिक सौहार्द और मानवदृमूल्यों की स्थापना का माध्यम बना। उन्होंने धार्मिक विभाजन के स्थान पर समानता, भाईचारे और सार्वभौमिक मानवता को सर्वोच्च माना।

इस प्रकार, कबीर का यह संदेश स्पष्ट है कि सांप्रदायिक सद्भाव केवल समाज में स्थापित किया जा सकता है जब सभी मनुष्य धर्म, जाति, वर्ग के भेद से ऊपर उठकर एक–दूसरे का सम्मान और प्रेम करें। उनकी कविता अभी भी सामाजिक और मानवीय चेतना को जाग्रत करने का माध्यम है। कबीर का काव्य सांप्रदायिक सद्भाव और मानवदृमूल्यों की स्थापना का माध्यम बना। उन्होंने धार्मिक प्रभाग के स्थान पर समानता, भाईचारे और सार्वभौमिक मानवता पर विचार किया।

"हिन्दू कहे मोहि राम पियारा, तुर्क कहे रहमाना।
आपस में दोऊ लड़ी–लड़ी मर गए, मरम न काहू जाना।।"
(कबीर, बीजक; श्रीवास्तव , परमानंद . 1985)

श्रम और लोकचेतना

कबीर का जीवन और उनकी काव्य रचनाएँ, श्रम और संस्कृति के गहरे संबंध में बंधे हैं। वे खुद एक जुलाहा थे और अपने श्रम के माध्यम से अपना जीवन यापन करते थे। मध्यकालीन समाज में शारीरिक श्रम करने वालों को बार–बार तुच्छ समझा जाता था, लेकिन कबीर ने इस सोच को पूरी तरह से बदल दिया। उन्होंने श्रम की गरिमा को सामाजिक वैयक्तिकता का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बनाया। कबीर कहते हैं कबीर कहते हैं

"साईं इतना दीजिए, जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय।।"
(कबीर, बीजक; द्विवेदी हजारीप्रसाद 1947)

यहाँ कबीर जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को ही पर्याप्त मानते हैं। उनकी दृष्टि में श्रम से अर्जित अन्न ही पवित्र है, और उसका उपयोग परिवार व साधुओं की सेवा में होना चाहिए।
कबीर ने आलस्य और परजीवी जीवन का विरोध किया। वे मानते थे कि जो मनुष्य श्रम नहीं करता, वह सच्चे धर्म का पालन भी नहीं कर सकता। उनका विचार था कि ईश्वर भक्त के हाथों के श्रम में ही वास करता है। यह दृष्टि उस समय के शोषित और श्रमिक वर्ग को आत्मसम्मान देती है।
कबीर जीवन की झलक को ही न्यूनतम आवश्यकताओं को ही पर्याप्त मानते हैं। उनके अनुसार, श्रम से अर्जित अन्न ही पवित्र है, और इसका उपयोग परिवार और साधुओं की सेवा में होना चाहिए। कबीर ने आलस्य और परजीवी जीवन का कड़ा विरोध किया। उनका मानना था कि जो व्यक्ति श्रम नहीं करता, वह सात्विक धर्म का पालन नहीं कर सकता। उनके विचार में, ईश्वर भक्त के श्रम में ही निवास करते हैं। यह सोच उस समय के शोषित और श्रमिक वर्ग को आत्म–सम्मान प्रदान करती है।
कबीर श्रम को आत्म–सम्मान का स्रोत मानते थे:

"काम करो सब निंदक से, सच्चा सुख पाव।
जो बीज बोवत श्रम का, वही फल पाएँ।" (कबीर,, सिंह, नामवर. 1993)

वे आलस्य और परजीवी जीवन का विरोध करते हुए कहते हैं:

"जुलाहा धरि तंतु बुनत, सबका भला करत।
सत गुण कर संग संग, समाज जगत सजत।"
(परमानंद श्रीवास्तव .1985)

कबीर का यह संदेश साफ है कि श्रम न केवल हमारे भौतिक जीवन के लिए जरूरी है, बल्कि यह सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उनके काव्य श्रमिक वर्ग के आंदोलन और समाज में उनकी गरिमा को स्थापित करने का एक मजबूत माध्यम है।
उनका यह संदेश सामाजिक समानता और आत्मनिर्भरता की भावना को मजबूत करता है। कबीर ने यह सिद्ध किया कि श्रम में किसी जाति या वर्ग का बंधन नहीं है, बल्कि यह सभी सिद्धांतों का कर्तव्य है। यही विचार उनकी काव्य को लोकजीवन से साझा करता है और धार्मिक सामाजिक निजी को एक नई दिशा प्रदान करता है।

स्त्री और समाज

कबीर का काव्य स्त्री के प्रति समाज की जटिल दृष्टि को प्रकट करता है। मध्यकालीन भारत में, स्त्री को प्रायः अधीनता और मोहजाल का कारण माना जाता था। कबीर ने कई स्थानों पर स्त्री को सांसारिक बंधनों और साधना में रुकावट के रूप में दिखाया है

"नारी नरक का द्वार है, तजि देवे सो जाण।
तिन्हें भजै कबीर को, साधु होय गुणगान।।"
(कबीर, सिंह, नामवर. 1993)

यहाँ वे साधु के लिए स्त्री को मोह का द्वार मानते हैं, जो यह दर्शाता है कि कबीर का दृष्टिकोण उस समय की धार्मिक और सांस्कृतिक सोच से प्रभावित था।
लेकिन, कबीर का यह नजरिया स्त्री–विरोधी नहीं था; बल्कि, यह मुख्य रूप से वैराग्य और साधना की ओर प्रेरित करने वाला था। उन्होंने गृहस्थ जीवन और स्त्री–पुरुष संबंधों को भी स्वीकार किया, क्योंकि वे खुद विवाहित थे। उनके अनुसार, समस्या स्त्री नहीं, बल्कि मनुष्य का मोह और आसक्ति है।
कबीर का असली संदेश यह था कि साधक को किसी भी प्रकार के बंधनकृचाहे वह स्त्री–पुरुष आकर्षण हो या धन–लोभकृसे मुक्त होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से, उनका काव्य स्त्री–विरोध नहीं, बल्कि मानव–मुक्ति का संदेश देता है।
मध्यकालीन भारत में महिलाओं को अक्सर अधीन और पारिवारिक तथा सामाजिक बंधनों में बंधा हुआ समझा जाता था। कबीर ने अपने दोहों के माध्यम से इस सोच को चुनौती दी। वे महिलाओं को मोह और सांसारिक बंधनों का कारण मानते हैं, लेकिन उनके दोहे आत्मनिर्भरता और साधना के महत्व को भी उजागर करते हैं।

वे कहते हैं

"नारी नरक का द्वार है, तजि देवे सो जाण।
तिन्हें भजै कबीर को, साधु होय गुणगान।"
(कबीर, सिंह, नामवर. 1993)

इसके अलावा, कबीर स्त्री और पुरुष दोनों को मोह और आसक्ति से मुक्त होकर जीवन जीने की सीख देते हैं:

"मोह सब का माया है, तजि देहु हरि को भज।
नारी पुरुष संग ना छूटे, साधु राखे मन निर्मल।"
(कबीर, बीजक; द्विवेदी हजारीप्रसाद 1947)

कबीर ने स्त्री के अधिकार और समानता की बात को परोक्ष रूप से भी उजागर किया है । वे कहते हैं

"कबीर कहे सत्यमय, स्त्री पुरुष बराबर।
धर्म न पूछे जाति, गुण से हो सब स्वीकार।"
(कबीर, बीजक; श्रीवास्तव , परमानंद .1985)

स्त्री–सम्बंधी उनके विचार मध्यकालीन सामाजिक चेतना के विरोधाभासों को उजागर करते हैं। एक तरफ, स्त्री को मोहजाल के रूप में देखा गया, जबकि दूसरी तरफ, वह पारिवारिक और सामाजिक जीवन का एक अनिवार्य हिस्सा भी रही। यह द्वंद्व उस समय की मानसिकता और सामाजिक ढांचे का एक स्पष्ट चित्रण है। कबीर इन दोहों के जरिए यह संदेश देते हैं कि समाज में स्त्री की स्थिति केवल सामाजिक रीतियों पर निर्भर नहीं करती, बल्कि यह पुरुषों और समाज की सोच पर भी निर्भर करती है। साधक को अपने जीवन में संतुलन और समान दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है।

निष्कर्ष

कबीर का काव्य सिर्फ भक्ति–मार्ग का साहित्य नहीं है, बल्कि यह मध्ययुगीन समाज का एक महत्वपूर्ण सामाजिक और सांस्कृतिक दस्तावेज़ भी है। उन्होंने जातिगत भेदभाव के खिलाफ आवाज उठाई, धार्मिक पाखंड को नकारा, साम्प्रदायिक सद्भाव का संदेश फैलाया और श्रम की गरिमा को स्थापित किया। उनकी रचनाओं में शोषित वर्ग की चेतना, मानवतावादी दृष्टिकोण और सुधार की ज्वाला झलकती है। इसलिए, कबीर के काव्य को मध्ययुगीन सामाजिक चेतना का एक मजबूत आधारस्तंभ माना जा सकता है।

संदर्भ सूची

1. द्विवेदी, हजारीप्रसाद। (1947). कबीर. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन। (उद्धृत पृ. 43, 112, 162, 188)
2. सम्पा. अज्ञेय (1928). कबीर. बीजक , वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा। (उद्धृत पृ. 121, 141)
3. शुक्ल, रामचंद्र। (1929). हिंदी साहित्य का इतिहास. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा। (उद्धृत पृ. 215, 223)
4. सिंह, नामवर। (1993). कबीर के सामाजिक स्वर. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन। (उद्धृत पृ. 72, 76, 84, 97)
5. श्रीवास्तव, परमानंद। (1985). कबीर और उनका युग. इलाहाबाद: किताब महल। (उद्धृत पृ. 119, 121, 141)
6. वाजपेयी, नंददुलारे। (1962). संत साहित्य और समाज. लखनऊ: हिंदी समिति। (उद्धृत पृ. 65–70)